

‘औपनिवेशिक’ प्राच्यविद्या, ‘औपनिवेशिक’ पुरातत्व और ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’

कृष्ण मोहन श्रीमाली

यू तो भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण की स्थापना सर एलेक्सेन्द्र कनिंघम के प्रयासों के फलस्वरूप 1861 ई. में हुई थी परंतु सही अर्थ में भारत में पुरातत्व का इतिहास 19वीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ माना जा सकता है। विश्व पुरातत्व का इतिहास भी लगभग इतना ही पुराना कहा जा सकता है। निश्चित रूप से इस दीर्घकालीन इतिहास की गति परिवर्तनशील ही रही होगी। अतः इसमें तनिक भी हैरानी नहीं होनी चाहिए कि पुरातत्वशास्त्रियों ने और इतिहासकारों ने भी, जो इतिहास लेखन के इस महत्वपूर्ण उपकरण के सक्रिय उपभोक्ता रहे हैं, समय समय पर पुरातत्व के कार्यक्षेत्र और उसकी परिभाषा को भिन्न भिन्न प्रकार से प्रकट और विश्लेषित किया है। पृथ्वी के गर्भ में समाहित मानवता के इतिहास के भौतिक अवशेषों से सम्बंधित इस शास्त्र के गर्भ में मानव की विगत भौतिकता और उसके निःहतार्थ शामिल हैं। प्रसिद्ध पुरातत्वशास्त्री मॉर्टिमर व्हीलर ने 1950 में ही कहा था: “पुरातत्वशास्त्री को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उनका उद्देश्य मात्र वस्तुओं का उत्खनन नहीं अपितु जनता का उत्खनन है।”¹ विश्व पुरातात्विक कांग्रेस² ने तो इस क्रांतिकारी सोच को आगे बढ़ाया कि पुरातत्व ऐसी गतिविधि है जो जीवितों के बीच, जीवितों पर, जीवितों द्वारा की जाती है। इसकी ध्वनि यही है कि विगत भौतिकता मानव की वर्तमान भौतिकता से भी जुड़ी रहती है।

प्रस्तुत प्रबंध में हम भारतीय पुरातात्विक इतिहास और भारतीय इतिहास से सम्बद्ध उन दो प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे जो 1990 के दशक में काफी सुर्खियों में रहीं। ये दोनों प्रवृत्तियां एक दूसरे की पूरक हैं और हमारे विचारानुसार इसी दशक के दौरान भारत में उत्पन्न ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’ की पोषक भी बनीं। हमारे मत का एक बिन्दु यह भी है कि पिछले दो दशकों का यह सम्पूर्ण विकासक्रम विचारधारा की दृष्टि से नवउदारवाद और पूंजीवादी नवउपनिवेशवादी/साम्राज्यवादी व्यवस्था के हिमायतियों को भी बल प्रदान कर रहा था।

1990 के दशक की उपरोक्त दो प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं :

(1) ‘औपनिवेशिक’ प्राच्यविद्या तथा ‘औपनिवेशिक पुरातत्व’,

(2) धर्म के आधार पर भारतीय मनीषा और भारतीय संस्कृति की पहचान का निरूपण।

प्रथम प्रवृत्ति के कम से कम तीन प्रमुख अवयव हैं। जिन पुरातत्वशास्त्रियों ने 'औपनिवेशिक' प्रच्यविद्या का प्रतिपादन किया, उनमें ब्रिटेन के केंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर दिलीप चक्रवर्ती प्रमुख हैं।³ भारत की अक्षुण्ण साहित्यिक परम्परा और विरासत का निरादर करते हुए उसे इतिहास के पुनर्गठन के लिए पूरी तरह अनुपयोगी बताना इस प्रवृत्ति का ही पहला अभिन्न अवयव है। चक्रवर्ती के अनुसार इस विपुल साहित्य में वर्णित भौगोलिक क्षेत्रों की दृष्टि से भारत के बड़े भूभाग का अछूता रह जाना तथा इसमें प्रयुक्त शब्दावली को समझने में निहित पक्षपातपूर्ण पूर्वाग्रह घोर बाधक हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य को अनैतिहासिक बताने के पीछे सबसे प्रमुख कारण उसकी तिथिक्रमात्मक अनिश्चितता बतायी गयी।⁴

अगर क्षण भर के लिए यह मान भी लिया जाय कि प्राचीन भारतीय साहित्यिक परम्पराओं की अनेक रचनाओं का काल तनिक अनिश्चित रहता है पर क्या यह तर्क उनका पूर्ण परित्याग करने को जायज ठहरा सकता है? यह मानते हुए कि पुरातत्व विगत मानव के वास्तविक भौतिक अवशेषों का साक्ष्य है, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि (1) वैज्ञानिक विधियों की उपलब्धता के बावजूद उन अवशेषों के तिथिक्रमात्मक आकलनों में भी प्रायः अनेक सदियों का अंतराल देखा जा सकता है, और (2) उन अवशेषों की भाषा कैसे समझी जाए? हाल में आरम्भिक सभ्यताओं के बोध से सम्बंधित एक महत्वपूर्ण शोध प्रबंध में पुरातत्व की क्षमताओं और सीमाओं का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इसके माध्यम से तकनीकी विकास; जीवन निर्वाह के संसाधनों एवं प्रारूप; वस्तुओं के विनिमय, वितरण और संचरण; व्यवस्थापन के प्रारूप; सम्पत्ति के वितरण आदि अनेक किस्म की जानकारियों का ज्ञान लगातार बढ़ता जा रहा है। फिर भी मात्र पुरातात्विक साक्ष्यों के बल पर सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं और संगठनों का अनुमान लगाना अत्यंत दुष्कर है। उदाहरणार्थ, सिन्धु घाटी सभ्यता के अनेकानेक स्थलों के उत्खननों के बावजूद यह निश्चित करना सम्भव नहीं हुआ है कि वह एक राज्य था अथवा अनेक राज्य या फिर राज्यविहीन राष्ट्रमंडल।⁵ पुनः, पुरातत्वशास्त्री हमें पृथ्वी के गर्भ से नर नारी के शवकंकाल तो निकाल कर दे सकते हैं पर क्या वे मात्र उनके आधार पर यह भी बता सकते हैं कि वे शवकंकाल ब्राह्मण के हैं अथवा शूद्र के?

रही बात साहित्य की भौगोलिक सीमाओं की सीमितताओं की, तो हमें इस पर भी विचार कर लेना चाहिए कि कौन सी पुरातात्विक संस्कृति अखिल भारतीय संस्कृति कही जा सकती है। सभी तो अपने अपने समय में छोटे बड़े पैमाने की क्षेत्रीय संस्कृतियां थीं। फिर यदि संस्कृत साहित्य से मात्र उत्तरी भारत और पालि बौद्ध कृतियों से मध्य गंगा घाटी का ही चित्र उभरता है तो उनका तिरस्कार क्यों? शब्दावली के पूर्वाग्रहों की चर्चा तो चक्रवर्ती ने की ही नहीं।

समृद्ध साहित्यिक परम्परा का ऐसा घोर बहिष्कार यदि स्वीकार किया जाय तो हमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास के पुनर्गठन की सामर्थ्य रखने वाले अत्यंत विशाल और रोचक साक्ष्य पुंज से हाथ धोना पड़ेगा। इस संदर्भ में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ऋक्संहिता जैसी काव्यात्मक और ऐतिहासिक कृति न केवल भारतीय सभ्यता की धनाढ्यता की द्योतक है अपितु सम्पूर्ण वैश्विक मानवता की। आखिर उसे तो यूनेस्को ने भी सम्पूर्ण विश्व की धरोहर माना है। विडम्बना तो यह है कि ऋक्संहिता में स्तुत्य परंतु अब लुप्त सरस्वती नदी की खोज से सम्बद्ध पिछले दो दशकों के 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' द्वारा प्रभावित तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्थापन की पुरातात्विक परियोजना को चक्रवर्ती उचित ठहराते हैं।⁶

सवाल यहां यह उठता है कि इतिहास लेखन की कार्यविधि क्या हो। चक्रवर्ती सरीके विद्वानों का दृष्टिकोण पुरातात्विक अहंकार और पुरातात्विक कट्टरवाद से अधिक और कुछ नहीं जो इतिहास लेखन का एक आयामी घातक एजेण्डा (कार्य सूची) है। यह सच है कि गम्भीर पुरातात्विक अन्वेषणों

और उल्खनों की तुलना में भारतीय साहित्यिक ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन अनेक दशक पूर्व आरम्भ हो चुका था।⁷ और शायद यही वजह थी कि प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्गठन में उसका अधिक उपयोग हुआ। भारतीय इतिहास लेखन में पुरातत्व को तो तब अधिक बल मिला जब बीसवीं सदी के आरम्भ में हड़प्पा सभ्यता के अवशेष सामने आये। यह मात्र सापेक्षिक बात है। इसी सापेक्षिकता का एक पहलू यह भी कि चूंकि आधुनिक काल में संस्कृत साहित्य का अध्ययन पालि साहित्य की तुलना में पहले आरम्भ हुआ अतः आरम्भिक बौद्ध साहित्य कुछ देर बाद ही कारगर साबित हुआ और विभिन्न प्रकार की प्राकृत में रचित जैन साहित्य का इतिहासकारों द्वारा उपयोग तो आज भी बहुत कम ही दिखाई देता है। किसी भी एक प्रकार के स्रोत को वरीयता देना और दूसरे का पूर्ण रूप से तिरस्कार किया जाना सुदृढ़ इतिहास लेखन की कार्य विधि नहीं हो सकती। ऐसी कार्य विधि से मात्र विघटित इतिहास लेखन ही हो पायेगा।⁸

‘औपनिवेशिक’ प्राच्यविद्या का दूसरा महत्वपूर्ण अवयव पाश्चात्य जगत के इतिहास लेखकों का नस्लवाद था, जिसके फलस्वरूप भारतीय इतिहासकारों को तुच्छ समझा जाता था। इसी वजह से भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विकास को मात्र विदेशजनित अथवा बाह्य कारकों द्वारा उत्पन्न बताया गया। चक्रवर्ती इस बात पर बल देते हैं कि तृतीय विश्व के पुरातत्वशास्त्रियों को स्वदेशी दृष्टिकोण और स्वदेश से उत्पन्न प्रारूप तैयार करना चाहिए।⁹ किसी भी किस्म का नस्लवाद निन्दनीय और अक्षम्य है। पर क्या रंगभेद पर आधारित नस्लवाद भारत में आधुनिकयुगीन औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा ही आरम्भ हुआ? वैदिक साहित्य में वर्ण और शारीरिक विशेषताओं पर आधारित सामाजिक विभाजनों के वर्णनों का क्या अर्थ लगाया जाए? ‘म्लेच्छ’ सम्बन्धित उन उल्लेखों और विवेचनों का क्या किया जाये, जो भारतीय साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोतों में पढ़ने को मिलते हैं?

प्रथम प्रवृत्ति के ही तीसरे अवयव के विवेचन के लिए हमें तथाकथित ‘औपनिवेशिक’ पुरातत्व की चर्चा करनी पड़ेगी।¹⁰ इसके निरूपण के लिए आजकल पुरातत्ववेत्ता बाहर क्षेत्र में कम और अभिलेखागारों के गलियारों में सरकारी फाइलों की धूल झटकते हुए अधिक दिखायी देते हैं। भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए ये पुरातत्ववेत्ता कनिंघम, जॉन मार्शल और सर मॉर्टिमर व्हीलर जैसे पुरातत्ववेत्ताओं।¹¹ की नीतियों और कार्यसूची को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों का पोषक बताते हैं। उनके मतानुसार इस ‘औपनिवेशिक एजेण्डा’ का प्रमुख उद्देश्य ऐसी एकरूप धार्मिक पहचान गढ़ना था, जिसके अंतर्गत विभिन्न स्मारकों के स्वरूप को मनगढ़ंत तरीकों से बदल कर उन पर अपना आधिपत्य जमाना और उनका नियंत्रण करना था। प्राकारांतर से इस बात का संकेत भी दिया जाता है कि औपनिवेशिक काल के इन विभिन्न पुरातत्ववेत्ताओं ने अधिकतर बौद्ध स्मारकों पर बल दिया; महात्मा बुद्ध के बोधिस्थल बोधगया के वर्तमान स्मारक के निर्माण में राजनीतिक हस्तक्षेप किया और तत्कालीन ‘महंत’ पर नियंत्रण का प्रयास भी।¹²

यह सच है कि भारतीय पुरातत्व का वास्तविक विकास 1857 की क्रांति के पश्चात् हुआ और यह भी असम्भव नहीं कि इस घोर झटके के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के निर्माताओं और हितैषियों ने (जिनमें उच्चवर्गीय और सवर्णी भारतीय भी थे) धार्मिक पहचान की राजनीति को पुष्टर किया हो। पुरातत्व को इस उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम बनाया हो— यह भी स्वीकारा जा सकता है। यहां एक प्रासंगिक सवाल यह उठता है कि क्या विस्तारवादी राजनीतिक शक्तियों के ऐसे रवैये का सूत्रपात 19वीं सदी के उपनिवेशवाद से ही हुआ? भारत का लम्बा इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों का साक्षी है जो विजेताओं द्वारा विजितों पर अपने प्रभुत्व को प्रकट करने के लिए प्राचीन स्मारकों एवं प्रतीकों का प्रयोग अपने हितों को ध्यान में रख कर करते रहे।

भारतीय स्मारकों के इतिहास में सम्राट ‘अशोक’ के स्तम्भों का विशेष महत्व रहा है। सबसे पहले तो इस सम्राट ने स्वयं अपने से पूर्वगामी स्तम्भों का उपयोग अपनी ‘धम्म’ लिपि के माध्यम से

‘धम्म विजय’ के संदेश के लिए किया। लगभग 500 वर्ष बाद अशोक का ऐसा ही एक स्तम्भ (कोसम अर्थात् कौशाम्बी स्थित, जो आज अकबरकालीन इलाहाबाद किले में स्थित है) गुप्त नरेश समुद्रगुप्त की क्षेत्रीय विजय पताका की प्रशस्ति से उकेरा गया। तुगलक नरेश फिरोज शाह और मुगल जहांगीर ने भी अशोक स्तम्भों का उपयोग अपने अपने हिसाब से किया। स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अशोक के सारनाथ (जहां महात्मा बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया) स्तम्भ के सिंहशीर्ष को राष्ट्रीय चिह्न बना दिया।

चेन्नई के निकट महाबलीपुरम स्थित पल्लवकालीन विष्णु प्रतिमायुक्त समुद्रतटीय मंदिर का स्वरूप बदल कर शैव बना दिया गया था। इसी प्रकार अमरावती (आंध्र प्रदेश) के बौद्ध स्तूप के प्रवेश पर स्थित अयक स्तम्भ को, जो इस स्तूप के स्थापत्य की विशिष्टता थी, 13वीं शताब्दी में काकतीय नरेश ने उठा कर स्तूप के निकट स्थित भव्य मंदिर में अमरलिंगेश्वर के नाम से स्थापित किया। छठी से आठवीं शताब्दियों के दौरान हुए दीर्घकालीन चालुक्य पल्लव संघर्षों में प्रायः विजेता विजितों की राजधानी/प्रमुख नगरी में अपनी विजय की अमिट छाप इसलिए छोड़ देता था ताकि तत्कालीन लोग अपने अपमान को भूल न सकें। इन संघर्षों के दौरान धार्मिक स्थलों के विद्रूपण/स्वरूप परिवर्तन के उदाहरण भी कम नहीं।¹³

‘औपनिवेशिक’ पुरातत्व के उपरोक्त तथाकथित एजेण्डा के संदर्भ में दो अन्य विचारणीय प्रश्न हैं: (क) क्या यह एजेण्डा मात्र विध्वंसक और विभाजक था? तथा (ख) क्या पुरातत्व का एजेण्डा विचारधारा की दृष्टि से तटस्थ (Neutral) हो सकता है? काफी हद तक दोनों प्रश्न अंतर्सम्बन्धित हैं।

निश्चित रूप से तथाकथित ‘औपनिवेशिक’ पुरातत्व को मात्र विध्वंसक और विभाजक कहना एकपक्षीय चित्र होगा। भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के संस्थापक और प्रथम निदेशक जनरल कनिंघम की आलोचना का एक पहलू यह है कि उन्होंने अधिकतर बौद्ध स्तूपों की खोज, उनके उत्खनन और निरूपण का ही काम किया। इस सम्बंध में हाल के एक सर्वेक्षण में बिहार के क्षेत्र में कनिंघम के कार्य का मूल्यांकन किया गया है। इसमें इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि 1861 से 1881 के बीच अपने अनेकानेक दौरों के दौरान कनिंघम ने 75 स्थलों का अन्वेषण और उत्खनन किया; उनका आधुनिक भूगोल से तादात्म्य स्थापित किया; विस्तृत ड्राइंग रेखाचित्रों के माध्यम से अवशेषों की स्थापत्यात्मक विशेषताओं का वर्णन किया; तथा अत्यंत तन्मयता और परिश्रम से पुरातात्विक क्षेत्रों, मंदिरों, स्तम्भों आदि की पैमाइश की जो आज भी बहुत सहायक और उपयोगी होते हैं। इस सर्वेक्षण में तो यहां तक कहा गया है कि स्वातंत्र्योत्तर पुरातात्विक अन्वेषणों की कार्यप्रणाली में वह आग्रह और कसावट नहीं है, जो कि औपनिवेशिक चरण के, विशेषकर 19वीं शताब्दी के पुरातत्वविदों के, कार्यों में दिखायी देती है।¹⁴

यह मान लेते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के पक्षधरों ने कभी कभी ‘स्वदेशी’ पुरातत्वविदों के कार्यों के श्रेय को शर्मनाक तरीके से हथिया लिया; फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्हीं पक्षधरों द्वारा अपनायी गयी धर्म आधारित पहचान बनाने की विभाजक नीति को बनाने में अनेक ‘स्वदेशी’ धर्माधिकारियों और पंडितों ने भी कुछ कम योग नहीं दिया। सांस्कृतिक निधियों और स्मारकों के संरक्षण और पुनरोद्धार से सम्बंधित लॉर्ड कर्जन की नीतियों की खामियों के बावजूद उन्हें पूर्ण रूप से खलनायक के रूप में प्रस्तुत करना नाइंसाफी होगी।¹⁵ क्या भारतीय स्वतंत्रता के बाद पारित सांस्कृतिक निधियों के संरक्षण और पंजीकरण से सम्बंधित अनेक अधिनियमों के बावजूद इनकी लूट, तस्करी और स्मारकों का विद्रूपण, कब्जाकरण, धार्मिक रूपांतरण समाप्त हो गया है? भारत की आजादी के तुरंत बाद अयोध्या स्थित बावरी मस्जिद रामजन्मभूमि विवाद और अंततः 1992 में बावरी मस्जिद के दर्दनाक विध्वंस के बाद तो शायद कुछ कहने को रह ही नहीं जाता। ‘औपनिवेशिक’ पुरातत्व के

अनेक पक्षधर, स्वातंत्र्योत्तरकालीन धुरंधर स्वदेशी पुरातत्ववेत्ता और स्वयं भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण I के अधिकारी इस घातक विध्वंस के समय या तो चुप्पी साधे रहे या स्थिति को उतेजक बनाने के लिए पुरातत्व का दुरुपयोग करते रहे— ठीक वैसे ही जैसे फासिस्ट हिटलर ने जर्मनी में किया था।¹⁶

जहां तक विचारधारा की दृष्टि से पुरातात्विक एजेण्डा की तटस्थता की अपेक्षा का प्रश्न है, विश्व पुरातात्विक कांग्रेस का संविधान स्पष्ट रूप से कहता है कि सभी प्रकार के पुरातात्विक कार्य राजनीतिक होते हैं। यदि यह बोध पूर्ण रूप से स्वीकार्य न भी हो, फिर भी ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि पुरातात्विक अन्वेषणों अथवा उत्खननों का कोई विशिष्ट उद्देश्य एवं लक्ष्य न हो। प्रायः 'औपनिवेशिक' पुरातत्व के पक्षधर अपने को राजनीतिक और विचारधारात्मक दृष्टि से तटस्थ बताते हैं। यह मात्र छलावा है। स्वतंत्रता के तुरंत बाद ही ऐसे पुरातात्विक एजेण्डा के संकेत मिलते हैं, जो भारत की विशिष्ट धर्म आधारित सांस्कृतिक राष्ट्रवादी पहचान बनाने की दिशा में ही अग्रसर हो रहे थे। सर मॉर्टिमर व्हीलर ने, जो 1944 से 1948 तक भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के निदेशक जनरल थे, 1949 में ही लिखा, "हाल के विभाजन ने हमें सिन्धु घाटी (सभ्यता) से वंचित कर दिया है... अब हमारे पास इसका कोई बहाना नहीं कि हम गंगा की घाटी के अन्वेषण को और देर तक लटका सकें। यह कार्य बहुत पहले हो जाना चाहिए था। आखिर यदि सिन्धु (इंडस) नदी ने भारत को उसका नाम दिया तो इसके साथ साथ यह भी जान लेना चाहिए कि गंगा ने उसे एक धर्म प्रदान किया है।"¹⁷ यदि स्वतंत्रता के बाद पिछले छः से अधिक दशकों में किये गये अखिल भारतीय पुरातात्विक अन्वेषणों और उत्खननों का विश्लेषण करें तो निम्नांकित तथ्य बहुत स्पष्ट रूप से उभर कर हमारे सामने आते हैं:

(1) एक विशाल पैमाने पर हड़प्पा सभ्यता सरीके केन्द्रों को भारत में ढूंढने और पहचानने के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। फलस्वरूप आज ऐसे अनेक भारतीय पुरातत्वविद हैं, जिनमें भारत में 'औपनिवेशिक' पुरातत्व के प्रवर्तक दिलीप चक्रवर्ती भी शामिल हैं, जो हड़प्पा सभ्यता की पहचान ऋक्संहिता में वर्णित और प्रशंसित सरस्वती नदी को केन्द्र में रख कर प्रस्तुत करते हैं। और न ही उन्हें जॉन मार्शल के इस मत से परहेज है कि आधुनिक हिन्दू धर्म तथा भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की नींव हड़प्पाई सभ्यता में ही दिखाई दे जाती है।¹⁸

(2) दूसरी ओर हड़प्पाई सभ्यता के विस्तार और उसी की धरोहर के सातत्य को गंगा की घाटी में ढूंढने के प्रयास में लगे अनेक पुरातत्वशास्त्रियों ने विशेष बीड़ा उठाया।¹⁹ फलस्वरूप अनेक पुरातात्विक संस्कृतियों की प्राचीनता को जबरदस्ती पीछे धकेला गया।²⁰

(3) चूंकि एक लम्बे अरसे तक भारत के उपरोक्त आद्य इतिहास (प्रोटो हिस्ट्री) को स्थ. पित किया जा रहा था, इसलिए ऐतिहासिक काल के पुरातत्व पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। स्मरणीय है कि व्हीलर के 'पुरातात्विक एजेण्डा' में इसका विशेष स्थान था। यह और बात है कि वे इसके माध्यम से भूमध्य सागरीय रोमन और यूनानी सभ्यताओं की श्रेष्ठता से अधिक प्रेरित थे। अब पिछले लगभग 15-20 वर्षों में इस क्षेत्र में हुए कार्य से भारत और पाश्चात्य जगत के व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान प्रदान की नवीन दृष्टि उत्पन्न हुई है। फलस्वरूप, इन अंतर्सम्बंधों में भारत का योगदान भी उभर कर सामने आया है।

(4) सर्वाधिक तिरस्कार का क्षेत्र तो मध्ययुगीन पुरातत्व रहा है। भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण I द्वारा प्रकाशित स्वातंत्र्योत्तरकालीन सभी वार्षिक रिपोर्टें दर्शाती हैं कि अखिल भारतीय स्तर पर पुरातात्विक स्थलों के मध्ययुगीन स्तरों को सदा 'मुस्लिम' कह कर नजरअंदाज किया गया। क्या इसके पीछे पुरातत्वविदों की तथाकथित तटस्थता थी या फिर धर्म आधारित विशिष्ट 'सांस्कृतिक राष्ट्रवादी' पहचान स्थापित करने का एजेण्डा?

वैसे तो चक्रवर्ती ने 'औपनिवेशिक' प्राच्य विद्या के नस्लवादी दृष्टिकोण के विकल्प स्वरूप किसी सैद्धांतिक 'स्वदेशी प्रारूप' को प्रस्तुत नहीं किया है पर 1990 के दशक में इसकी मांग भी

क्यूं की गयी? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें इसी दशक की दूसरी प्रवृत्ति की चर्चा आवश्यक लगती है।

यह शायद मात्र संयोग नहीं होगा कि 1990 में प्रकाशित दो रचनाएं काफी सुर्खियों और चर्चा में रहीं। एक ओर रॉनेल्ड इंडेन कृत *इमेजिनिंग इंडिया* में विश्वविख्यात एडवर्ड सईद कृत *ओरियंटलिज्म*²¹ की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए भारतीय संस्कृति को देशजता (indigenism) का जामा पहनाया गया। इसी बहाने इण्डेन ने भारतीय मनीषा को हिन्दू मनीषा कह डाला। दूसरी ओर आर्द्रि विंक कृत *अलहिन्द* (प्रथम खंड) ने भारतीय इतिहास के काल विभाजन से सम्बंधित उस अवधारणा की पुनर्स्थापना की, जिसमें प्राक् औपनिवेशिक काल को साम्प्रदायिकता की नींव डालते हुए 'हिन्दू' और 'मुस्लिम' की श्रेणियों में बांटा गया था।²² विंक की रचना में 'मुस्लिम अर्थव्यवस्था' का खुल कर प्रतिपादन किया गया। इण्डेन और विंक की उपरोक्त रचनाएं एक दूसरे की पूरक हैं। यह विचारणीय प्रश्न होना चाहिए कि आखिर इण्डेन ने भारतीय मनीषा को हिन्दू मनीषा ही क्यूं कहा। यहां याद रखने की बात यह भी है कि उन्होंने तुर्कों के आक्रमण की वजह से 'हिन्दू राजत्व' की समाप्ति के साथ साथ भारत में जाति व्यवस्था के आविर्भाव की बात भी की है। *इमेजिनिंग इंडिया* में मुसलमानों का चित्रण खलनायक के रूप में किया गया।²³ सांस्कृतिक देशजता का यह कलेवर किस दिशा की ओर संकेत करता है?

1990 के दशक का भारत राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से लगभग वैसे ही दौर से गुजर रहा था, जैसा 20वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में था। तब भी तथाकथित औपनिवेशिकता का विरोध काशी प्रसाद जायसवाल जैसे तथाकथित 'राष्ट्रवादी' इतिहासकारों ने हिन्दुओं के अतीत के गौरव और विधर्मी 'विदेशी' (शक, कुषाण, तुर्क) आक्रांताओं के खलनायकत्व की चर्चा के माध्यम से किया। क्या उपनिवेशवाद का अर्थ केवल राजनीतिक सत्ता से ही जोड़ना चाहिए? या फिर उस सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था से, जो उसके केन्द्र में थी? 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्राक् आधुनिक. कालीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में जायसवाल सरीके किसी राष्ट्रवादी इतिहासकार ने उस व्यवस्था को चुनौती नहीं दी।

1990 के दशक में भारतीय पटल पर हो रहे विकासक्रम की मुख्य विशेषताएं क्या रही हैं? पूंजीवादी अमरीकी नवसाम्राज्यवाद के प्रभाव में पोषित नवउपनिवेशवाद का, जिसका नमन और विध्वंसक रूप ईराक के युद्धों में देखा गया, भारत में पैर जमाना इसकी पहली कड़ी थी। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की आड़ में मुसलमानों एवं अन्य अल्पसंख्यकों को खलनायक बताना तथा अयोध्या स्थित राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद विवाद का राजनीतिक दुरुपयोग कर हिन्दुओं को संगठित करना दूसरी कड़ी थी। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों' द्वारा भारतीय इतिहास का धर्म आधारित काल विभाजन; तथाकथित 'हिन्दूकाल' के अतुल्य वैभव, सम्पन्नता और समृद्धि की गौरव गाथा; तथा 'मुस्लिम काल' में उसके विघटन की गाथा को रेखांकित करना भी इसी श्रृंखला की अन्य कड़ी थी। अफगानिस्तान में तालिबान द्वारा बामियान स्थित विशालकाय एकाश्मीय बौद्ध प्रतिमाओं के विध्वंस पर अमरीका की चुप्पी और अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद के विध्वंस के समय अनेक भारतीय पुरातत्वविदों की चुप्पी मात्र संयोग नहीं हो सकती। और न ही 'सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों' द्वारा इण्डेन और विंक की रचनाओं का स्वागत करना संयोग हो सकता है।

'औपनिवेशिक' प्राच्यविद्या और 'औपनिवेशिक' पुरातत्व के एजेण्डों के ढक्कन खोलने के उत्साह में इनके प्रवर्तकों ने एक ओर नवउपनिवेशवाद का और दूसरी ओर उल्कट सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का पोषण किया। 'औपनिवेशिक' पुरातत्व के व्याख्याता ने तो भारत के संदर्भ में 'उत्तर उपनिवेशीय' को मात्र स्वातंत्र्योत्तर काल का पर्याय ही समझा है।²⁴ वे यह भूल जाती हैं कि पारिभाषिक शब्द के रूप में 'उत्तर उपनिवेशिकता' का प्रयोग एक विशिष्ट संदर्भ में और खास प्रयोजन से किया गया है। इस प्रवृत्ति का जन्म 1990 के ही दशक में पूंजीवादी पाश्चात्य जगत के विश्वविद्यालयों और उच्चस्तरीय

शोध संस्थानों से जुड़े साहित्यकारों की रचनाओं में हुआ। मोटे तौर पर उन्होंने इसे मात्र तिथि विशेष मानते हुए 'द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर' अर्थात् 1945 के बाद के विश्व का पर्याय बताया। वास्तविकता यह है कि इस शब्दावली का प्रयोग एक ओर द्वितीय विश्वयुद्ध की वीभत्सता पर पर्दा ढांकने और दूसरी ओर भारतीय नेतृत्व में चल रही वि-उपनिवेशवाद की प्रक्रिया के महत्व को कम आंकना था। यह पूरा प्रयास अमरीकी नवउपनिवेशवाद को एक आवरण भी प्रदान कर रहा है।

'औपनिवेशिक' प्राच्यविद्या और 'औपनिवेशिक' पुरातत्व के भारतीय प्रणेताओं और समर्थकों ने पूंजीवादी पाश्चात्य जगत में उत्पन्न नवपुरातत्व (न्यू आर्केयोलॉजी) और 'देशजता' को बढ़ावा देने वाले 'प्रक्रियावादी पुरातत्व' (प्रोसेसुअल आर्केयोलॉजी) के नव उपनिवेशवादी एजेण्डा का कोई विरोध नहीं किया। हमें यह विस्मयकारी भी नहीं लगता कि उन्होंने 'इस्लामिक आर्केयोलॉजी', 'बुद्धिस्ट आर्केयोलॉजी', 'आर्केयोलॉजी ऑफ हिन्दुइज्म' जैसी शब्दावली का न केवल विरोध नहीं किया बल्कि अपितु उनका पोषण करने वाली शोध पत्रिकाओं में सहर्ष और उत्साहपूर्वक योग भी दिया।²⁵ क्या यह वही पुराना 'औपनिवेशिक' दृष्टिकोण नहीं है जिसके द्वारा समन्वयवादी भारतीय संस्कृति को संकुचित, खंडित और मात्र धर्मप्रेरित बताने पर बल दिया जाता रहा है!

'औपनिवेशिक' प्राच्यविद्या और पुरातत्व के नस्लवादी आधार का विरोध करना तो उचित लगता है किन्तु उसी उपनिवेशवाद के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आधार पर चुप्पी नजरअंदाज नहीं की जा सकती। उपनिवेशवाद का क्षुद्रतम अध्येता भी यह जानता है कि यह सम्पूर्ण व्यवस्था उपनिवेशित क्षेत्रों में सामाजिक वैषम्य का वातावरण और उन क्षेत्रों के आर्थिक संसाधनों (मात्र सांस्कृतिक संसाधनों को ही नहीं) को लूट कर उन्हें अपने उत्पाद्यों का 'बाजार' बनाने में सदा सक्रिय रही। इसके प्रति चुप्पी क्यों? विडम्बना तो इस बात की है कि 'औपनिवेशिक' प्राच्यविद्या के प्रणेता तथाकथित 'स्वदेशी प्रारूप' की 'देशजता' और इतिहास के तथाकथित 'हिन्दूकाल' की गौरव गाथा की चर्चा करते हुए उसके 'बाजारीकरण' की आवश्यकता की भी दुहाई देने से नहीं चूकते।²⁶ शायद इसीलिए 'नव उपनिवेशवाद' और 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' एक दूसरे के पूरक हैं। 'औपनिवेशिक' प्राच्यविद्या और 'औपनिवेशिक' पुरातत्व उनका मात्र आवरण है।

पाद टिप्पणियां

1. *एंटिक्विटी*, खंड 24, अंक 95, सितम्बर 1950, पृ. 126
2. इस संगठन का जन्म 1986 में हुआ था। इसका उद्देश्य मुख्यतः यूरोप केन्द्रित और यूरोपजनित विचारधाराओं के विरोध में दक्षिणी एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका जैसे विकासशील देशों को पुरातात्विक अध्ययनों की धुरी बनाना था।
3. 1997 में प्रकाशित उनका शोध प्रबंध *कोलोनियल इंडोलॉजी: सोशियोपॉलिटिक्स ऑफ ऐंशेंट इंडियन पास्ट* इस श्रेणी की प्रतिनिधि और प्रवर्तक रचना है। इस मत की पुनरावृत्ति उन्होंने 2008 में प्रकाशित *दि बैटल फॉर ऐंशेंट इंडिया: एन ऐस्से इन दि सोशियोपॉलिटिक्स ऑफ इंडियन अर्कियोलॉजी* में भी की।
4. कोलोनियल इंडोलॉजी, पृ. 152-66, साहित्यिक ग्रंथों की ऐसी पूर्ण अवहेलना उसी प्रकार की अति सीमा की परिचायक है जैसी कुछ अन्य प्राच्यविद्या विशारदों के लेखन में पुरातात्विक साक्ष्यों के प्रति दिखाई देती है। दृष्टव्य ब्रूस लिंकन, *प्रीस्ट्स, वॉरियर्स एंड कैंट्रल*, 1981, पृ. 179-84
5. ब्रूस जी. ट्रिगर, *अंडरस्टैण्डिंग अर्ली सिविलाइजेशन*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 2003, पृ.31-33.
6. चक्रवर्ती, *दि बैटल फॉर ऐंशेंट इंडिया*, पृ. 1, 16-22
7. सर विलियम जोन्स के प्रयास के फलस्वरूप एशियाटिक सोसायटी की स्थापना 1784 में ही हो चुकी थी, जबकि भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण का जन्म 1861 ई. में हुआ। एशियाटिक सोसायटी ने भारतीय साहित्यिक परम्परा और विशेषकर संस्कृत साहित्य के अध्ययन में विशेष योगदान किया।

8. 1963 में डी. डी. कोसाम्बी ने प्राच्यविद्या के अध्ययन हेतु सर्वांगीण प्रविधि वाले तरीके का विस्तृत विवेचन किया था, जिसमें पुरातत्व, साहित्य, भाषा विज्ञान, न-विज्ञान आदि सभी के सम्मिलित रूप की वकालत की थी। दृष्टव्य, उनका लेख 'कम्बाइंड मेथड्स इन इंडोलॉजी', *इंडोइरानियन जर्नल*, खंड 6, 1963, पृ. 177-202; यह लेख हाल में ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय द्वारा संगृहीत और सम्पादित डी.डी. कोसाम्बी: *कम्बाइंड मेथड्स इन इंडोलॉजी एंड अदर राइटिंग्स*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, नयी दिल्ली 2002, पृ. 3-29 में पुनः मुद्रित किया गया है।
9. यहां देखने की बात यह है कि वैदिक साहित्य के कालक्रम और आर्यों से सम्बंधित मुद्दों पर चक्रवर्ती (कोलोनियल इंडोलॉजी, पृ. 152-66) वैदिक साहित्य के अध्ययनों के पितामह भारतीय प्रोफेसर आर.एन. दांडेकर की तुलना में विंटरनिज और एडमंड लीच जैसे विदेशी विद्वानों को उद्धृत करना अधिक पसंद करते हैं।
10. इस प्रवृत्ति की एक महत्वपूर्ण रचना हिमांशु प्रभा रे कृत *कोलोनियल आर्कियोलॉजी इन साउथ एशिया: दि लिगेसी ऑफ सर मॉर्टिमर व्हीलर*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, 2008, है।
11. ये सभी भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के अध्यक्ष थे। कनिंघम ने 1861-65 और 1871-1885, मार्शल ने 1902-28 और व्हीलर ने 1944-48 के दौरान यह पदभार संभाला था।
12. नयनजोत लाहिरी, 'बोध गया: ऐन ऐंशेंट बुद्धिस्ट श्राइन एंड इट्स मॉर्डन हिस्ट्री (1891-1904)' — यह लेख टिमोथी इंसोल द्वारा सम्पादित *केस स्टडीज इन अर्कियोलॉजी एंड वर्ल्ड रेलिजन*, आर्कियोप्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1999, पृ. 33-43 में प्रकाशित है।
13. तुलनीय रिचर्ड डेविस, 'ट्रॉफीज ऑफ वॉर: दि केस ऑफ दि चालुक्य इन्डूडर'। यह लेख कैथरीन बी. एशर और थॉमस आर. मैटकाफ द्वारा सम्पादित *पर्सैशज ऑफ साउथ एशियाज विजुआल पास्ट* (1994) में प्रकाशित है। एक अन्य उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार चोल नरेश ने चालुक्य कालीन द्वारपाल की प्रतिमा को अपने राज्य में स्थापित कर अपनी विजय का सशक्त प्रतीक बनाया।
14. गौतम सेनगुप्ता एवं कौशिक गंगोपाध्याय द्वारा सम्पादित *आर्कियोलॉजी इन इंडिया : इंडिविजुअल, आइडियाज एंड इस्टिट्यूशज*, सेण्टर फॉर आर्कियोलॉजिकल स्टडीज एंड ट्रेनिंग, ईस्टर्न इंडिया, कोलकाता और मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली द्वारा 2009 में प्रकाशित, विजय कुमार चौधरी का लेख 'हिस्ट्री ऑफ आर्कियोलॉजी इन बिहार', पृ. 227-243
15. नयनजोत लाहिरी, 'कमिंग टु गिप्स विद दि इंडियन पास्ट: जॉन मार्शलज अर्ली ईयर्स एज लॉर्ड कर्जन्स डाइरेक्टर जनरल ऑफ आर्कियोलॉजी इन इंडिया— भाग एक, *साउथ एशियन स्टडीज*, खंड 14, 1998, पृ. 1-23
16. इस मुद्दे के विस्तार के लिए देखिये कृष्ण मोहन श्रीमाली, 'आर्कियोलॉजी ऑफ अयोध्या: फ्रॉम इम्ब्रेगिलो टु रेजोल्यूशन' - यह लेख ए.जी. नूरानी द्वारा सम्पादित *दि बाबरी मस्जिद क्वेश्चन; 1528-2003- 'ए मैटर ऑफ नेशनल ऑनर'*, तुलिका बुक्स, नयी दिल्ली, 2003, पृ. 65-82 में प्रकाशित है।
17. अगले ही वर्ष, अर्थात् 1950 में ऐसी ही पुरातात्विक पहचान को स्थापित करने की दृष्टि से व्हीलर ने नवजात पाकिस्तान को सूत्र प्रदान करने के लिए *फाइव थाउसेण्ड ईयर्स ऑफ पाकिस्तान*, रायल इंडिया एंड पाकिस्तान सोसायटी, लंदन से प्रकाशित ग्रंथ की रचना की।
18. इस विचारधारा के तर्कों के खंडन के लिए देखें कृष्ण मोहन श्रीमाली, 'कंस्ट्रक्चिंग एन आइडेंटिटी: फोर्जिंग हिन्दुइज्म इनटु हड़प्पन रेलिजन्स', *सोशल साइंस प्रोविंग्स*, खंड 15, अंक 1-2, 2003 पृ. 1-59; शिरीन रत्नागर, 'अ पास्ट टु मिरर आरसेल्लज', 25 फरवरी 2009 को जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली में दिया गया 27वां मुख्तार अहमद अंसारी स्मृति व्याख्यान (अप्रकाशित)।
19. हड़प्पाई सभ्यता के बाद और प्राक् मौर्य काल के अंतराल में गंगा घाटी की पुरातात्विक संस्कृतियों के अब तक उपलब्ध ज्ञान को अत्यंत सीमित पुरातात्विक साक्ष्यों और परवर्ती साहित्यिक साक्ष्यों का विचारधारात्मक जोड़तोड़ बताते हुए ब्रूस ट्रिगर (पूर्वोक्त, पृ. 34) ने ऐसे प्रयासों को अत्यधिक अटकलबाजीपूर्ण कहा है।
20. उदाहरणार्थ, उत्तर में गंगा घाटी में काली पॉलिश वाले मृद्भांडीय संस्कृति और लोहे के प्रयोग के तिथिक्रम सम्बंधी विचारों को देखा जा सकता है। समझ नहीं आता कि आधुनिक वैज्ञानिक विधियों और अनेक स्थलों से प्राप्त तिथिक्रमात्मक जानकारी के बावजूद दिलीप चक्रवर्ती (*दि बैटल फॉर ऐंशेंट इंडिया* पृ. 103-04) क्यूं मार्शल के इस मत का समर्थन करते हैं कि काली पॉलिश वाले मृद्भांड ई. पू. आठवीं सदी के हैं। मार्शल का यह मत केवल भीटा

से प्राप्त फर्शीय स्तरों के अनुमानित तिथिक्रम पर आधारित था। इसी प्रकार भारत में लौह तकनीक के तिथिक्रम सम्बंधी विवाद के लिए हाल के विवेचन के लिए देखिए, डी. मंडल, 'ऐंटिक्विटी ऑफ आयरन : रिब्यू ऑफ अ रिसेंट प्रोजेक्शन', *सोशल साइंस प्रोविंग्स*, खंड 21, अंक 1, जून 2009, पृ. 1-19 और जया मेनन 'ग्लोरिफाइंग इंडियन टेक्नॉलॉजी', *दि बुक रिब्यू*, जनवरी 2009, पृ. 13-14

21. 1978 में प्रकाशित यह रचना काफी क्रांतिकारी मानी गयी। इसका दावा था कि औपनिवेशिक प्राच्यविद्या विशारदों ने उपनिवेशों की स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराओं की अवहेलना की थी और इसलिए यह आवश्यक है कि उनका पुनर्केंद्रीकरण हो। 'देशजता' इसका मूल मंत्र था।

22. 1817 में पहली बार प्रकाशित जेम्स मिल कृत *हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया* (तीन खंड) ने इस अवधरणा का सूत्रपात किया था।

23. इण्डेन और विंक के विचारों की विस्तृत समीक्षा के लिए देखें कृष्ण मोहन श्रीमाली, 'रिफ्लेक्शंस ऑन रीसेंट पर्सपेक्शंस ऑफ अर्ली मीडियल इंडिया', 1994 में आंध्र प्रदेश इतिहास परिषद के 18वें अधिवेशन में 'हिस्टोरियोग्राफी' खंड का अध्यक्षीय भाषण। इस कांग्रेस की *प्रोसीडिंग्स* के अतिरिक्त यह लेख *सोशल साइंटिस्ट*, खंड-21, अंक 12 (247), दिसम्बर 1993 में भी प्रकाशित है (पृ. 25-39)।

24. हिमांशु प्रभा रे, पूर्वोक्त, सर्वत्र

25. गत लगभग 25 वर्षों में *वर्ल्ड आर्कियोलॉजी* नामक विख्यात शोधपत्रिका ने इन शीर्षकों के विशेष अंक प्रकाशित किये हैं।

26. दिलीप चक्रवर्ती, *कोलोनियल इंडोलॉजी*, पृ. 9-11 और अध्याय 3. 1995, अर्थात् 1990 के दशक में ही अमरीका के प्रिंस्टन शहर में राजीव मल्होत्रा ने इन्फिनिटी फाउण्डेशन की स्थापना की थी। इस संस्था की विज्ञान और तकनीकी में भारतीय योगदान के इतिहास नामक परियोजना के उद्देश्यों के निरूपण में भी 'बाजारीकरण' की शब्दावली का प्रयोग आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। भारत के 'ब्रांड' और सांस्कृतिक 'पूँजी' का निर्माण करने के उद्देश्य से इस परियोजना के अंतर्गत 2008 में तीन खंडों का प्रकाशन हुआ। ये रचनाएं हैं: जगत पति जोशी, *हड़प्पन आर्किटेक्चर एंड सिविल इंजीनियरिंग*; आर. बालसुब्रमणियम, *मार्वल्ज ऑफ आयरन थ्रू दि एजिज*; तथा विभा त्रिपाठी, *हिस्ट्री ऑफ आयरन टेक्नॉलॉजी इन इंडिया (फ्रॉम बिगिनिंग टु प्री-मॉडर्न टाइम्स)*। तीनों खंडों में समान रूप से विज्ञान और तकनीकी में भारतीय योगदान की गौरवगाथा पढ़ने को मिलती है।